प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय देवी की आकर्षक प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनके अनेक नाम दिए गये हैं–निर्लज्ज नारी, नग्न पाल्थी मारे बैठी मातृ–देवी चूंकि इसका ऐतिहासिक नाम अज्ञात है। अतः इसे पच्चीस विभिन्न नामों से जाना जाता है, जिनमें प्रमुख हैं–अदिति, मातृ–देवी, रेणुका, नग्नकबन्ध। प्रख्यात मूर्तियों में देवी का धड़ है जिसके सिर के स्थान पर कमल है। जबकि उसके पैर घुटनों से मुड़े हैं और दोनों तरफ खिचे हैं जिसे प्रसवावस्था की मुद्रा या शरीर प्रदर्शन कहा गया है किन्तु इन मूर्ति मुद्राओं में पर्याप्त विविधता है।

इसके अनेक नामों में एक नाम चुनना कठिन है, क्योंकि उसकी निर्विवाद पहचान नहीं की जा सकी है न तो किसी प्राचीन लेख में विवरण या सही नाम दिया गया है।[1] यह देवी विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न नामों से जानी जाती हैं, जो उसके शारीरिक पक्ष के विवरण पर आधारित है। इन नामों की विविधता का कारण मूल नाम का विस्मृत हो जाना है, जिसके कारण अलग–अलग क्षेत्रों के लोगों ने उसके अलग–अलग नाम रखे। हम सुविधा और स्पष्टता के लिए इस देवी को मातृ–देवी के नाम से पुकारेंगे, क्योंकि आधुनिक भारत में यही नाम सर्वाधिक प्रचलित है।

मातृ–देवी की प्रतिमा बहुत ही प्रतीकात्मक है, जो युगों से कलाकारों को आकृष्ट करती रही है। मातृ–देवी विभिन्न पीढ़ियों में हो रहे सांस्कृतिक परिवर्तनों को समाहित किए हैं। यह प्रक्रिया भारत की अनेक मूर्तियों के सम्बन्ध में सत्य है लेकिन इसका अन्वेषण इसके पहले नहीं किया गया है। मातृ–देवी के मूर्तिकला और मूर्ति के रूपों का अध्ययन नहीं किया गया है। मूर्तियों के चित्रों का प्रकाशन भारत के विभिन्न हिस्सों में किया गया है, लेकिन विभिन्न हिस्सों से ज्ञात सामग्री को मिलाकर अध्ययन नहीं किया गया है। इस

अध्ययन में मातृ–देवी की मूर्तिकला की पद्धति प्रणाली का एक अध्ययन प्रस्तुत करने की हमारी चेष्टा है। उसके प्रतीकात्मक अर्थ का अन्वेषण करके निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। चूँकि यहाँ पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। अतः इस देवी का कला–ऐतिहासिक अध्ययन सम्भव है। मैंने इस अध्ययन में मूर्ति विद्या के साथ ही साथ ही इस पर भी ध्यान दिया है कि इसका भारतीय मूर्तिकला की प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा है। विशेष प्रतिमाओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है। वृहत्तर प्रश्नों जैसे किसी देवता के मूर्ति कला चित्रकला का निर्माण और भारतीय देवता में परिवर्तन के कारक सन्दर्भ आकस्मिक कारण–परिस्थितियाँ जिनके कारण रूप परिवर्तन हुआ और प्रतीकात्मक अर्थ बदला अब तक भारतीय कला के इतिहास में इस प्रकार के प्रश्नों का अध्ययन प्रारम्भ नहीं हुआ हैं इस अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य मातृ–देवी की आकृति, उसके विशिष्ट मूर्ति रूप का महत्व तथा उसके धार्मिक कार्य आदि की पहचान करना हैं यह विभिन्न क्षेत्रों की मूर्तियों के अध्ययन का एक प्रयास है। विभिन्न मूर्ति प्रकार की मूर्तियाँ खण्ड विशेष काल में पाये जाते रहे हैं तथा उनके स्वरूप में परिवर्तन जटिल मिलते हैं।

भारत ऐसे परम्पराबद्ध समाज का असाधारण चित्र प्रस्तुत करता है जो ईसा पूर्व चार सहस्त्राब्दियों से आज तक सतत् कलाकृतियों का सृजन करता आया है जो निर्धारित सिद्धान्तों के अनुरूप होते हुए भी प्रचुर मान्य विविधता प्रदर्शित करता है। यह अदम्य सृजनशक्ति प्रकृति की विविधता तथा ऐसे धर्म दर्शन द्वारा प्रोत्साहित और पोषित होती रही है जो जीवन और जगत के विविध रूपों और अभिव्यक्तियों में एक ही सर्वव्याप्त देवता को देखता है। इसी कारण एक देवता शिव के 1008 से अधिक रूप हैं। अन्य धार्मिक मूर्ति कला से भिन्न भारतीय मूर्ति कला का प्राचीन आगमो, तन्त्रो, साहित्य महाकाव्य एवं पुराणों आदि में विधिवत प्रलेखन हुआ है। लेकिन ये प्रलेख एक लम्बी पूर्ववर्ती परम्परा से उत्तरार्ध

के समकालीन हैं और उसी पर प्रकाश डालते हैं, ये देवी–देवताओं के मूल रूपों और उनके विकास के पूर्व चरणों को आलोकित नहीं करते। अनेक प्रलेख तो सातवीं शताब्दी ईस्वी में लिखे गये, यद्यपि उनकी तिथियाँ निर्विवाद नहीं हैं, वे वर्णनात्मक हैं निर्धारक नहीं। मूर्तियों के निर्माण के बाद पुरोहितों के राय से प्रत्येक देवी या देवता को सर्वमान्य रूप से प्रतिष्ठित किया गया। टी0ए0 गोपीनाथ राव और जे0एन0 बनर्जी द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध प्रलेखों का संग्रह संकलन सबसे प्रमाणिक सन्दर्भ ग्रन्थ है।[2] दुर्भाग्य से किसी प्राचीन ग्रन्थ में मातृ–देवी से सम्बद्ध कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

थोड़े से विद्वानों ने ही भारतीय मूर्तिकला की जटिलता को समझने और परिवर्तन लाने वाले कारणों को जानने का प्रयास किया है। भारतीय कला इतिहास के जनक आनन्द कुमारस्वामी ने यक्ष के अपने अध्ययन में यह व्याख्या करने की चेष्टा की है। अनेक तत्व प्रागधार्मिक युग के मिथकों से आये हैं जो बराबर मूर्तिकला में प्रयुक्त हुए हैं। अर्थों की अनेक पर्तें बिम्बों की भाषा के साथ जुड़ती चली गई है। उदाहरणार्थ युगों में मातृ–देवी से सम्बन्धित जनशक्ति की विचारधारा का विकास हुआ।

एफ0डी0 के वास्च ने अपने कल्पनापूर्ण अध्ययन में कुमारस्वामी के भारतीय कला के सिद्धान्तों की समीक्षा की है। वास्च के अनुसार प्रतीकों के विकास में 'रूपसाम्य' तथा रूपविकास बहुत अधिक सहायक हुआ है। इसी से अनेक विविध और भिन्न प्रकार के रूपों का एक दूसरे में संश्लेषण और समावेश हुआ और नयी स्वीकृतियाँ विकसित हुई। स्थानीय अभिव्यक्ति वृहत्तर अभिव्यक्ति का अंग बनी। यह प्रक्रिया तर्कपद्धति पर आधारित होती है। वास्च ने मकर के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित किया। मकर भारत का जलजीव घड़ियाल है या हाथी और अंशतः पौधा जिसकी मूर्तिकला का प्रयोग एशिया में मिलता है। मकर वरुण के समुद्र का प्रतीक था। जिसके मुख कुहर से विनिर्गत होती हुई अनेक कमल लताएँ

कला में अंकित की गई हैं। मकर मुख की द्रष्टाओं से मणियों को अपहरण करने के लिए अनेक मूर्तियों में यक्ष मकर संघर्ष चित्रित किया गया है। मकर को उस सम्पत्ति का प्रतीक माना गया जो शस्त्रों के व्यापार से प्राप्त होती थी। मकर पहले असुरों के अधिपति वरुण का वाहन था और आगे चलकर वह देवनदी गंगा का वाहन मान लिया गया। शुंगकाल में स्तूपों के तोरणों पर मकर मुखों का अंकन किया गया जिसके कारण उन्हें शिशुमारशिरः कहा जाने लगा। भरहुत के समान मथुरा की कला में भी इस प्रकार के शिशुमारशिरः मिले हैं। मकरमुखी या गाहामुखी टोटियाँ बहुत संख्या में मिली हैं। गुप्तकालीन सीमान्तमकारिका आभूषण में भी मकर मुख अलंकार लिया गया।[3]

मकर का अलंकरण और प्रतीकार्थ अनेक परिवर्तनों से गुजरा। वनस्पति से क्रमशः विकसित होते यह कमल नाभि तक पहुँचा जिसे विकसित करके मकर के उन्मुख खुले जबड़े या प्रजनन करने वाले खुले जबड़े का रूप दिया गया। वास्च ने निष्कर्ष में यह कहा कि भारतीय मूर्तिकला की शब्दावली में मिश्रित मिथकों की विविधता की प्रचुरता है, इनमें अनेक ऐसे प्रारम्भिक प्रतीक हैं जिनके उद्‌गम तक आज आसानी से नहीं पहुँचा जा सकता है लेकिन उनकी सर्वव्यापकता उनके सांस्कृतिक तथा कलात्मक महत्व को सांकेतिक करते हैं।[4] मातृ–देवी का अवतरण और उनके उद्‌भव का मूल स्रोत पुरातन प्रचलित प्रतीकों से हुआ है जिनके कमल पूर्ण कुम्भ उल्लेखनीय है। अवधारण के रूप में मातृ–देवी के पूर्ववर्ती पूर्वज हड़प्पा सभ्यता की कला से जुड़े हैं (2500–1500 ईसा पूर्व)। ऐसी मान्यता एच0डी0 संकालिया जैसे विद्वानों की है।[5]

हाल में विद्वानों ने अब तक किए गये अन्वेषणों से आगे बढ़कर भारतीय मूर्तिकला के स्वरूप उसकी प्रेरक शक्तियों का गम्भीर अध्ययन किया हैं जो उनके मूर्तिकला में अभिरुचि का द्योतक है। उदाहरणार्थ प्रत्येक देवी–देवता की मूर्ति को प्रभावित करने वाला

कारक है। क्षेत्रीय विभिन्नता माइकेल मायस्टर ने अपने हाल के प्रकाशन में सप्तमातृका नामक मूर्ति समूह का अध्ययन किया है और उनके भिन्नताओं रूपों को भूखण्डीय परम्पराओं से जोड़ा है।[6] क्योंकि भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी स्थानीय परम्पराओं विशिष्टताओं के अनुरूप मूर्तियों का निरूपण किया गया है। मातृ–देवी के वर्तमान परीक्षण का एक आवश्यक पक्ष है देश काल विशेष में लोकप्रिय विशिष्ट मूर्तिप्रकारों को एक दूसरे से जोड़ना ताकि मूर्तिकला के परिवर्तन की प्रक्रिया को स्थापित किया जा सके।

दक्षिण भारत में पल्लव–काल की महिसासुरमर्दिनी की मूर्तियों पर आधारित मूर्तिकला का इसी प्रकार का अध्ययन गैरी टार्टाकाव और विद्या देह जिया ने किया है। उनका मत है कि भूखण्डीय प्रभाव को एक क्षेत्रों का दूसरे से भागीदारी के रूप में लिये जाने से अधिक अच्छी है क्योंकि ये सभी एक समन्वित विशाल परम्परा के विभिन्न पक्ष हैं न कि एक की दूसरे पर निर्भरता के प्रमाण।[7]

तार, देहेजिया और जोन्नविलियम्स का अध्ययन ही भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में सूचनात्मक अभाव में मूर्तियों के लुप्त हो जाने की समस्या पर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनके उपलब्ध होने पर मूर्तिकला के विकास का चित्र पूरा हो सकता है। इस समस्या के कारण मूर्तिविकास के सभी प्रकल्प केवल सैद्धान्तिक होते हैं जिन्हें सिद्ध करना सम्भव नहीं।

विलियम्स ने जगन्नाथपुरी के शोभा यात्रा के विशाल रथ पर चित्रित उकेरी मूर्तियों का अध्ययन किया है। रथ का नवीनीकरण आज तक हुए मूर्तिकला के परिवर्तनों को प्रदर्शित करता है। विलियम्स की मूर्तिकला के परिवर्तन का अध्ययन अनेक मूर्तिकला सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जिसमें एक है बिम्ब ग्रहण करने वाले और अनेक अर्थों की व्याख्या करने वाले की अन्योन्याश्रित रथ पर उकेरे गये देवताओं की पुरोहित ट्राइबल

आदिवासी गाँव वालों द्वारा विशिष्ट पहचान आदि। बहुप्रचलित व्याख्याओं में किस व्याख्या का प्रलेखन किया गया। क्या समाज के एक स्तर द्वारा की गयी व्याख्या मूर्ति से जुड़े अन्य अर्थों को (अमान्य) अर्थहीन कर देती है। विलियम्स ने तर्क दिया है कि हमें भारतीय मूर्तिकला की व्याख्या में कंजूसी नहीं बरतनी चाहिए। केवल एक स्रोत किसी मूर्ति के उद्‌गम की व्याख्या नहीं कर सकता। विविध व्याख्याओं का सहअस्तित्व और उनकी अस्पष्टता बहुअर्थता स्वीकार करना होगा। क्रमिक विकास विविध क्षेत्रों में काल प्रवाह में होने वाले मूर्तिकला विशिष्ट दर्शकों के लिए अर्थ में परिवर्तन को बिम्बित करता है।[8]

मैंने मातृ–देवी के जिन चार प्रारूपों को पहचाना है वे यह प्रकट करते हैं कि काल और खण्ड में होने वाली सामान्य प्रगति न्यूनतम प्रतिमा से पूर्णतया मानवीय तक परिवर्तन की प्रक्रिया आकर्षक है। इसकी तुलना बुद्ध के मूर्ति समूह से की जा सकती है जब उसे पूर्ण मानव रूप दिया गया। बुद्ध के इस प्रतिमा काल का प्रमाणिक व्याख्या स्नेल ग्रोव ने की है। बुद्ध की पहली प्रतिमा की प्रस्तुति उसी प्रचलित संस्कृत के प्रतीकों द्वारा की गयी जैसे मातृ–देवी की मूर्तियाँ पायी जाती हैं।[9]

हिन्दूपुर कथाशास्त्र की तरह मातृ–देवी की प्रतिमाएँ एक साथ विभिन्न स्तरों पर संवाद करती हैं। मानवीय स्तर पर मातृ–देवी एक काल–परक सन्दर्भ बिन्दु प्रस्तुत करती हैं अर्थात् प्रसव करती (प्रसवा नारी) एक शुभ घटना है। देवत्व के स्तर पर मातृ–देवी उत्पादकता के विचार संतति तथा जीवन दायनी शक्ति का प्रतीक है। ब्रह्मण्डीय स्तर पर संसार के प्रजनन की सार्वभौमिक प्रक्रिया को सांकेतिक करती है। मातृ–देवी की मिथकीय गाथाएँ भी उपलब्ध हैं। अधिकांश में वह सिर–विहीन धड़ है। ये आधुनिक हो सकती हैं। ग्रामीणों द्वारा प्रयुक्त जो इसके मूल अर्थ से अनभिज्ञ हैं कुछ अन्य मूल अर्थ का सूत्र संजोये हो सकती हैं।

मातृ–देवी की मूर्ति के निर्माणकर्ताओं ने प्रजनन जीवनी शक्ति सौभाग्य के प्राचीन प्रतीकों से प्रेरणा ग्रहण की होगी जिसके द्वारा उसके गम्भीर विविध अर्थ को ध्वनित करने का प्रयास किया होगा। उन्होंने इन प्रतीकों के नये जोड़–तोड़ के साथ प्रसवा–नारी की मूर्ति को नया अर्थ देने का प्रयास किया। चूंकि इन धार्मिक ऐतिहासिक प्रतीकों और बिम्बों का पुनः उपयोग किया जाता रहा और वे नई अर्थवत्ता से सम्बद्ध होते रहे। इस परिवर्तन चक्र में वे सांस्कृतिक प्रतिमान और रूपक भारतीय कला की दृश्य भाषा के नियामक तत्व बनते गये।

भारतीय मूर्तिकला में ग्रामीण दृश्य में स्थानीय देवताओं के उद्‌भव और विकास की नयी परम्परा रही है, जिसे कालान्तर में देवताओं के उच्च ब्राह्मणी आसन पर प्रतिष्ठित करने की परम्परा कर दिया जाता रहा है। इस प्रकार के संस्कार और उत्थान की परम्परा हारिति की मूर्ति के इतिहास में खोजी जा सकती हैं जो एक भयंकर यक्षणी से विकसित होकर देवी के पद पर पहुँचती है। इसी प्रकार अनेक देवी–देवता ग्रामीण परिप्रेक्ष्य से उत्पन्न होकर उच्च पीठ पर आसीन हुए हैं। छोटी 'लघुपरम्परा' से वृहत्तर परम्परा में पहुँचे हैं।[10]

इसी प्रकार मातृ–देवी भी पूरे भारत में प्रसिद्ध देवी थीं लेकिन इसके धार्मिक कृत्यों पर प्रकाश नहीं डाला गया न तो इसकी पूजा विधि का विवरण उपलब्ध है। भारत में इसी प्रकार गाँवों की सीमा तक क्रियाशील प्रभावशाली देवताओं को ग्राम देवता कहा जाता है जो उस ग्राम विशेष के हितों की रक्षा करके आपदाओं से बचाते और एहिक सुख समृद्धि का वरदान देते हैं। अतः मैंने मातृ–देवी के वर्तमान पूजन विधियों को लिपिबद्ध किया है और संयम के साथ यह भी स्वीकार किया है कि ये मूल पूजा विश्वास और प्रणाली प्रारम्भिक प्राचीन प्रणाली से ही उद्‌भूत हैं।

मातृ–देवी देवी की मूर्तियाँ दो इंच की आकृति से पूरे जीवन की आकृतियों में पंक्तिबद्ध की गयी हैं या फैली हैं और या तो साँचे में निर्मित है या हाथ द्वारा मिट्टी से निर्मित कर पकाई गयी हैं या पत्थरों में उभरी हुई नकाशी से बनी हैं, बड़ी मूर्तियाँ पत्थरों की बनी है जो मन्दिरों में पूजा की लघु मूर्तियों का कार्य करती हैं। अनेकों की आज भी पूजा की जाती है। छोटे पत्थर या पकी मिट्टी की मूर्तियाँ घरों के मन्दिरों के बेदी पर लगी हैं।[11] एक मूर्ति चौथी शताब्दी के मन्दिर के बेदी के नीचे प्राप्त हुई है। (चित्र 103)।[12] यह मूर्ति दूसरी शताब्दी ईस्वी और ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य निर्मित है। यह प्रतिमा भद्दे आकार से सुधारकर परिष्कृत की गयी है। सर्वोत्तम आकार का उदाहरण चालुक्य के नरेशों के प्रारम्भिक काल के प्रारम्भ का है जो कर्नाटक के बादामी के निकट नागनाथकोला मन्दिर का है (चित्र 48) मातृ–देवी की प्रतिमाओं को भारत के बहुत से राज्यों में प्राप्त किया जाता है। यद्यपि वे कर्नाटक, आन्ध्र–प्रदेश, उत्तर–प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मध्य–प्रदेश और महाराष्ट्र में मुख्य रूप से प्रचलित हैं या व्याप्त है या नागपुर, तेर, कोण्डापुर, कौशाम्बी और भीटा की समाधियों के भीतर या चारो तरफ है। वास्तव में मातृ–देवी की प्रतिमाएँ भारतीय कला के लिए अपूर्व या विलक्षण नहीं हैं। इस विषय के लेख में 125 मूर्तियों का अध्ययन होता है। इसके सापेक्ष बड़े परिमाप की मूर्तियाँ जो पायी जाने वाली असंख्य मूर्तियों या प्रतिमाओं का अंश है वे इनके प्रकार की महत्ता को सिद्ध करती है या प्रमाणित करती है, यदि उदाहरण के लिए मुख्य रूप से तुलना की जाय तो ऐसे पूर्णज्ञात विश्वरूपा की मूर्ति से जो विष्णु का आकार है जिसकी मात्र 15 पत्थर की खुदी मूर्तियाँ प्राप्त हैं या ज्ञात हैं।

मातृ–देवी सर्वदा पीठ के बल पर पड़ी रहती या लेटी हुई स्थिति में निर्मित हैं, अर्थात उर्ध्वमुखी स्थिति में हैं।[13] झुकी हुई प्रतिमाओं के पैर के अँगूठे एक ओर की अपेक्षा दूसरी तरफ संकरे हैं, ऐसा लगता है कि मानो वह प्रसव की स्थिति में हैं, फिर भी गर्भवती

होने का कोई लक्षण नहीं है। फिर भी कुछ विद्वानों का निष्कर्ष है कि देवी मात्र अमर्यादित, निर्लज्ज है और उनकी आकृति उनकी मूर्तिकला के गम्भीर अध्ययन तथा इसमें निहित अर्थों के अध्ययन का सही रूप सामने नहीं आने दिया। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि कुछ देवियाँ आश्चर्यजनक ढंग से जन्म देती हैं किन्तु भारतीय देवियाँ न तो हमारी कल्पनाओं में और न तो पौराणिक कथाओं में गर्भवती रही हैं। मातृ–देवी की आकृति भी संदिग्ध है–सम्भवतया जानकारी के पश्चात् स्त्री सन्तानोत्पत्ति की भावना या चित्त में भावना की उत्पत्ति या बच्चा पैदा की स्थिति दोनों की अवस्थाएँ एक हैं। सृष्टि संरचना के लिए मानव आकार या योनि सम्बन्ध या जन्म की स्थिति दोनों ही एक रूप है या रूपक है। मानव की प्रसवावस्था और दैवी सृष्टि संरचना एक दूसरे के रूप हैं।

दैवी प्रतिभा से अलंकृत मातृ–देवी की प्रतिमा को मानवीय कामुकता के प्रदर्शन से अवश्य ही पृथक किया जाना चाहिए। इस अन्तर को भूलना मातृ–देवी का सही और गहन अर्थ को भूलना हैं वे कामुक हैं परन्तु मूल रूप में कामुक नहीं हैं। बाह्य रूप से प्रदर्शित आकृति के भीतर बहुत अधिक आध्यात्मिक संदेश व्याप्त है या प्रकट होता है। भारतीय कला अभिव्यक्ति के इस अर्थ से परिचित हैं। उदाहरणार्थ खजुराहो के मन्दिर के दिवालों पर मैथुन और सम्भोग की आकृतियों का अभिप्राय ईश्वर के साथ संजोग के आनन्द का परिचायक है।[14]

मातृ–देवी की प्रतिमाओं को प्रायः प्रदर्शनकारी स्त्री कहा गया है। फिर भी जब पैर फैले हैं तो गुप्त जननांग की अपेक्षा कुछ भी नहीं प्रदर्शित है। कोई भी दुराचारी या नीच इरादा नहीं है यद्यपि वास्तव में प्रतिमा कामुकता का परिचायक है परन्तु आन्तरिक इरादा कुछ भिन्न है। बाह्य आकृति की प्रतिमा से जिसमें कि स्त्री अपनी योनि को अपने हाथों से खोलती है। इस प्रकार का हिन्दू मन्दिरों में स्त्रियों का प्रदर्शन नश्वर व्यवहार का

प्रस्तुतिकरण करता है जो कभी–कभी तांत्रिक संस्कारों में होता है।[15] अज्ञात मूर्तियाँ विशेष रूप से अपने बाह्य आकार में मातृ–देवी की मूर्तियों से भिन्न है, मातृ–देवी का विशिष्ट आकार आज की मूर्तियों की तरह समान है, लेकिन उन सभी मूर्तियों से भिन्न है जिसमें कि मातृ–देवी कभी नहीं अपनी योनि को अपने हाथों से अलग नहीं करती हैं जैसा कि अन्य मूर्तियाँ करती हैं।[16] निःसन्देह वे कलाकार जो मातृ–देवी की प्रतिमाओं की नक्कासी किए वे और अधिक कामुक मूर्तियों से भिज्ञ थे लेकिन वे उसकी प्रतिमा को और अधिक चिन्हों के संसर्गों द्वारा अलग कर दिया। फिर भी यह कल्पना कि मातृ–देवी मात्र कामुक है उनकी मूर्ति रचना की धारणा को और अर्थ को हतोत्साहित कर दिया। प्रतिमा के प्रति गलत धारणा साहित्य को खाँई से घेर लिया है। वास्तव में प्रतिमाओं को संग्रहालयों में नहीं प्रदर्शित किया गया।

यह देवी की पैर फैली विशिष्ट आकृति की प्रतिमा है जिसने ऐसी गलत संशययुक्त धारणा को प्रेरित किया। इस विशिष्ट उत्तानपाद आकृति की अवश्य ही परिभाषा की जानी चाहिए और व्याख्या की जानी चाहिए चूंकि यह सामान्य बात सभी प्रतिमाओं के साथ है। जो अन्यथा हाथ पैर के आधिपत्य में भिन्न हैं। जबकि आकृति या प्रतिमा का मानवीय सिर या कमलवत सिर हो सकता है जबकि इसमें वक्षस्थल और भुजाएँ हो भी सकती हैं, या नहीं भी होती हैं, उनकी स्थिर आकृति पैरों की स्थिति ही है। इस विशिष्ट स्थिति के पैर एम0 आकृति के होते हैं। वे कमर की ओर इस तरह का खाका तैयार करते हैं कि मानो वे मूर्ति के धड़ के स्टैण्ड हैं। अधिकतर उदाहरणों में प्रस्तुत आकृति शारीरिक रचना के स्वाभाविक आकार में नहीं हैं, या सम्भवतया योग स्थिति में है, मुख्य रूप से पैरों के विचित्र कोण के आकार के हैं।

क्रामरिच ने इस सन्दर्भ में उत्तानपाद शब्द का प्रयोग किया, जो अंकन को ध्यान में रखते हुए सही जान पड़ता है।[17] ऋग्वेद (10.724) में कहा गया है कि पृथ्वी उत्तानपाद के रचनात्मक कार्य या उत्पादक शक्ति से उत्पन्न है। संस्कृत में उत्तानपाद का अर्थ आसन्न प्रसव की स्थिति में पैरों का फैलना है। यह अद्‌भुत रचनात्मक स्रोत है। वनस्पति या सम्पूर्ण पौधों का अंकुरण समस्त मातृ–देवी की प्रतिमाओं के पैरों की स्थिति उत्तानपाद के रूप में ही वर्णित है।[18] शारीरिक स्थिति ही उत्तान के रूप में वर्णित है जिसका अर्थ है फैला हुआ पीठ पर पड़ा हुआ उर्ध्वमुखी या ऊपर मुँह करके लेटा हुआ।[19] अग्रिम गड़बड़ी से बचने के लिए यह परिभाषित करना महत्वपूर्ण होगा कि उत्तानपाद स्थिति क्या नहीं हैं यह कुछ मात्रकाओं की आकृति नहीं है, जो कभी–कभी व्यापक पैर फैलाकर और पैर नीचे लटकाए हुए पीछे से प्रस्तुत की जाती है, उस स्थिति को भद्रासन या प्रलम्बपदासन कहा जाता है। यह बैठी आकृति कुषाण–काल के प्रसिद्ध सरस्वती देवी की प्रतिमा की भाँति है जो लखनऊ के राज्य संग्रहालय में है। उत्तानपाद आकृति उन आकृतियों के लिए प्रयुक्त है जिनका अर्थ पीठ पर पड़ा रहना है न कि बैठना या पाल्थी मारकर बैठना है।[20]

नग्न पाल्थी मारे बैठी हुई देवी एक दूसरी वर्णात्मक उपाधि है जो मातृ–देवी के लिए कभी–कभी प्रयुक्त किया है। यह भी सही नहीं जान पड़ती है क्योंकि नग्न स्थिति इस प्रतिमा की स्थिर विशेषता नहीं है। वह कभी भी पाल्थी पर नहीं बैठती है, बल्कि उर्ध्वमुखी ही रहती है। मातृ–देवी की उर्ध्व प्रतिमाएँ तालाबों की दिवालों या उनके समान स्थानों पर लम्बवत् संस्कारित की गयी है, इसलिए वे पाल्थी पर बैठी प्रतीत होती हैं। फिर भी निश्चित रूप से मातृ–देवी की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ उर्ध्वमुखी होती हैं। यह स्थिति ही उनके वास्तविक अर्थ को चरितार्थ करती हैं। वे किसी स्त्री के बैठी हुई अवस्था में जन्म देने की इच्छा या अभिलाषा को प्रस्तावित नहीं करती हैं। भारत में जन्म देने की सामान्य

अवस्था या स्थिति उर्ध्वमुखी ही है। मातृ–देवी की ये प्रतिमाएँ शुभ प्रतिमाएँ हैं[21], जो आशीर्वाद प्रदायिनी हैं, अपेक्षाकृत कामुक बुराई या किसी आकस्मिक आपदा या दुर्भाग्य से बचने की चौकसी करने का अभिप्राय रखती है। इस देवी का वास्तविक स्वभाव सार्वभौमिकता के समान नहीं है, या देवी माता की तरह जीवधारी गर्भ की तरह या माँ देवी की तरह नहीं है, यद्यपि वह इन चीजों को घेरती है। उचित रूप में वह सभी प्रकार के जीवन का स्रोत है जीव वनस्पति और इस प्रकार वह भाग्य का भी स्रोत है। वह जीवधारी जीवन रस है जिसे भारतीय दर्शन में जीवप्रदायिनी पानी में अवतरित तत्व माना जाता है या प्राणरस समझा जाता है या सभी जीवन का पालन करने वाला माना जाता है। वह सृजनात्मक शक्ति है, जीव प्रदायिनी उसका बाह्य प्रतीक जो उसकी रचना की कलात्मक व सांस्कृतिक विशेषता है।

भारत में स्त्रियाँ परम्परागत रूप में अपनी विशिष्ट शक्तिशाली प्रजनन के लिए आदरणीय हैं। भारतवर्ष की बहुसंख्यक देवियाँ मातृ देवी के रूप में वर्णित हैं या कही गयी हैं, जो बच्चा पैदा करने या धारण करने के आध्यात्मिक सिद्धान्त का आदर्श प्रस्तुत करती है या उन्हें अवतरित करती है।[22] इस अध्ययन के विचारणीय देवी तो वास्तव में व्यापक रूप से भारतीय कला की माँ देवियों की प्रमिमाओं से सम्बन्धित हैं लेकिन उस समूह की सदस्यों में उसका अर्थ सर्वाधिक जीवन तत्व या जीवन स्रोत है या अत्यन्त ही महत्वपूर्ण जीवन तत्व है

जीवन आकार की एक लम्पट या कामुक स्त्री का अपनी पीठ के बल खिंचे हुए पैरों या पैर फैलाये नंगे चित्रों के सम्मुख एक भविष्यवाणी अनेकों उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज सर्वेक्षकों की प्रतिक्रिया भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षकों के लिए उत्तेजित करती हैं।

सन् 1881 में जान फेथफुल फ्लीट की प्रतिक्रिया कर्नाटक के महाकुटा (बीजापुर जनपद कर्नाटक) के ऐसे चित्रों के प्रति प्रकाशित हुई जिसमें कुछ नटखट सिर विहीन अमर्यादित पत्थर की पार्वती देवी की प्रतिमाएँ मातृ–देवी के नाम से वर्णित हैं।[23] ई0डब्ल्यू0 वेस्ट ने लिखा है कि एल्लामा या येल्लम्मा कैनरीज (कर्नाटक) कन्नड़ देश की बड़ी लोकप्रिय देवी है लेकिन जिनके साथ उसका सम्पर्क है या जिस श्रेणी के लोक उसकी पूजा करते हैं उससे वह बहुत प्रतिष्ठित नहीं लगती।[24] वेस्ट ने इसका भी उल्लेख किया है कि उसकी पूजा वार्षिक मेले में जमकर की जाती है। जिसमें उर्गल बेलगाँव जनपद के 10000 लोग सम्मिलित होते हैं। यही वह देवी है जिसे मराठा लोग रेणुकादेवी कहते हैं।

खुदाई रिपोर्टों में मातृ–देवी की अनेक मूर्तियाँ प्रकाशित हुई हैं जिसमें उसे मातृ देवी या नग्न बैठी देवी या प्रदर्शित स्त्री कहा गया है 1956 में प्रकाशित स्टेला क्रामरिच के लेख में इस देवी के शारीरिक रूप को आलमपुर संग्रहालय में ऋग्वेद में पायी जाने वाली आदिति उत्तानपाद से जोड़ा गया है (चित्र 52)।[25] 1960 में एच0डी0 सांकालिया ने रिपोर्ट किया कि सी0चपगर ने इसी प्रकार की मूर्ति कर्नाटक के सिद्दन कोटे अब इसे सिद्धनकोला कहा जाता है में देखी थी (चित्र 43)। इसे उस स्थान पर मातृ–देवी के नाम से पुकारा जाता था जिस नाम का जिक्र 1881 में फ्लीट ने किया और जिसका अनुवाद चपगार ने शीलवान स्त्री किया।[26] सांकालिया ने मातृ–देवी की व्याख्या बेशर्म औरत के रूप में किया।[27] मातृ–देवी की प्रियोक्ति लेकिन यह अशुद्ध और अपवाद है और गलत नाम देना है। मातृ–देवी का अधिक शुद्ध अनुवाद है–मातृ–देवी के लिये कोई कारण नहीं या गौरी शालिनता की देवी या गौरी संलज्ज या गौरी निश्कलंक निष्पाप शिव की अर्द्धांगिनी गौरी पार्वती का एक विशेष रूप है शालीनता या पवित्रता की देवी। सांकालिया ने भी मातृ–देवी

को नेवासे के उत्खनन से प्राप्त प्रतिमा का उल्लेख किया है जिसे उस स्थान पर पार्वती की अवतार माना जाता है। (चित्र 4)

क्रामरिच के लेख के उत्तर में संकालिया ने कहा कि मातृ–देवी इस प्रकार की प्रतिमा को वैदिक देवी आदिति नहीं माना जा सकता क्योंकि यह उत्तर वैदिक–काल की है उनका सुझाव है कि यह भारतीय उद्‌गम की नहीं है इसका स्रोत मिश्र है अपने विवेचन में संकालिया ने भारत की देवियों और इण्डोनेशिया मिश्र और अन्य पाई जाने वाली नामकृतियों के रूप और कार्य में भेद नहीं किया। वस्तुतः उन्होंने एक अर्थ में श्रेणीबद्ध किया। उन्होंने यूरोपीय नारी आकृतियों से सम्बद्ध किया जो अपने हाथों से अपने भग को फैलाती हुई प्रदर्शित की गई है जिन्हें मातृ–देवी के पहले एम0ए0 मुरे ने प्रकाशित किया था।[28] मुरे और काड्रिंग्टन ने मातृ–देवी का विश्लेषण रोमन भावों और अन्य प्रजनन देवियों से जोड़कर किया जिसे संकालिया ने मान लिया[29] नारी की कामुक मूर्तियाँ जिसमें वे अपने वासनात्मक सौन्दर्य का प्रदर्शन करती हैं। अनेक सभ्यताओं यद्यपि अनेक कार्यों में भिन्नता है, यह तथ्य कि मातृ–देवी एक देवी है जिसकी आकृति और मुद्रा कामुक स्त्री मूर्तियों से उसे अलग मान लिया करती है जिनकी श्रेणी में उसे रखा गया।

जगदीश नारायण तिवारी ने अपनी प्रसिद्ध उत्तर भारत में देवी पंथ पहली से सातवीं सदी के विशेष सन्दर्भ में भारत की नग्न बैठी देवी नामक एक अध्याय सम्मिलित किया है[30] उन्होंने पूर्ववर्ती विचारधाराओं की विशुद्ध व्याख्या की और विदेशी और देशी उद्‌गम के क्रामरिच और सांकालिया द्वारा प्राप्त विवाद की समीक्षा की। इस प्रकार का विवाद भारतीय कला के इतिहास में स्थाई सम्मानित विवाद है यह आनन्द कुमारस्वामी और अल्फ्रेड फाउचर के विरुद्ध की प्रतिमा विवाद की याद दिलाता है।[31] तिवारी मातृ–देवी के इस विवाद को सुलझाने की कठिनाइयों का मूल्यांकन करते हैं और कहते हैं कि दोनों सिद्धान्त

एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं हैं तथापि उनके अनुसार आदिति नाम दृढ़ता से मातृ–देवी को नहीं दिया जा सकता। तिवारी यह भी सुझाव रखते हैं कि हो सकता है इस देवी की अवधारणा की प्रेरणा किसी स्थानीय पुरोहित की ही हो क्योंकि किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसका विवरण नहीं पाया जाता।

1978 में आर0सी0 धेरे ने मराठी में मातृ–देवी पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया जिसमें 16 प्रतिमाओं का संग्रह है[32] उनके इस अध्ययन में इस देवी के विभिन्न नामों का उल्लेख है और अनेक अर्थों का अध्ययन भी है। वे मातृ–देवी के पंथ प्रतिष्ठानों के बारे में काफी सूचना प्रस्तुत करते हैं उसके बारे में आधुनिक स्थानीय मिथक उन जातियों की सूचना जो आज इस देवी की पूजा करते हैं और पूजा पद्धति की समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। धेरे क्रामरिच की व्याख्या को मानते हैं जो उसे ऋग्वेद की आदिति से जोड़ती है। इनका अध्ययन धार्मिक भाषा शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय है। यह अध्ययन कला अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं किया गया, इस अध्ययन में धेरे ने मूर्तिकला के विकास उसमें पारिलक्षित होने वाले परिवर्तन तक धीरे–धीरे ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत उसे स्वीकार किये जाने की प्रक्रिया को नहीं लिया। हमारा अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण व मूर्तिकला के विकास उसमें धीरे–धीरे होने वाले परिवर्तनों तथा उनके द्वारा ब्राह्मण धर्म में उनकी धीरे–धीरे होने वाली स्वीकृति को ध्यान में रखकर करने का प्रयास है।

अभी हाल में मातृ–देवी के भारतीय कला में विभिन्न प्रारूपों को लेकर कैरोल रैडक्लिफ वौलोन की कृति फार्म ऑफ दि गाडेज मातृ–देवी इन इण्डियन आर्ट प्रकाशित हुई है। इसमें कलापक्ष का अध्ययन महत्वपूर्ण है। देवी के कलापक्ष के अध्ययन हेतु इसके चारों प्रारूपों की पहली बार व्याख्या वालोन महोदया ने की है, ऐसा पूर्ववर्ती किसी कृति

में नहीं मिलता, चारो प्रारूपों में मातृ–देवी के अंकनों का शैलीगत तिथि आदि आधार पर किया गया विभाजन सही जान पड़ता है।[33]

मूर्तियों की व्याख्या करने वाले लेखों के अभाव में हमें उनका अर्थ जानने के लिए मूर्तियों पर ही निर्भर करना होगा। मातृ देवी की प्रतिमा के प्रतीकात्मक पक्ष कमल कुम्भ उत्तानपाद मुद्रा उस सन्दर्भ में प्रगट होते हैं जहाँ वे पाये जाते हैं, वे भारतीय कला भाषा के सर्वविदित अंश हैं। मातृ–देवी की प्रतिमाओं की शैली काल निर्धारण इन प्रतिमाओं के मिलने का भूभाग तथा ऐतिहासिक कालक्रम में इनके विकास की अवधारणा महतवपूर्ण है। ग्रन्थों के अभाव में इन प्रतिमाओं का शैलीगत तिथि निर्धारण अध्ययन में सहायक है। इनका प्रयोग होने वाले परिवर्तनों तथा प्रसार हेतु हम करेंगे। अभिलेख के अभाव में मूर्तियों का काल और उद्‌गम के द्वारा ही उनके प्रसार में परिवर्तन और उनसे सम्बन्धित मूर्तिकलागत आकृति परिवर्तनों को खोजा जा सकता है या जैसा माइकेल माइस्टर लिखते हैं दृश्य मूर्तियाँ दृष्टि की भाषा का अनुसरण करती हैं साहित्यिक स्रोत दृश्यस्रोतों की केवल भूमिका ही प्रस्तुत कर सकते हैं। हमें उन उपादानों को खोजना होगा जो दृश्य स्रोतों में क्रियाशील होते हैं और जिनके द्वारा दृश्य रूप राजनीतिक सांस्कृतिक और पांथिक लक्षणों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।[34] मातृ–देवी का सन्दर्भ भी देवी के अर्थ की व्याख्या में हमारी सहायता करता है।

नोट्स

1. गोपीनाथ राव, 1968, 1974।
2. नार इज सी आइडेन्टीफाइड इन एनी सेकेन्ड्री इनकानोग्रेफिक स्टडी। बनर्जी, 1974, 489–90।
3. देखें : भारतीय कला वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्याय 14 संस्कृत युग की कला में प्रतीक और मूर्तियाँ
4. बोस, 1960, 27, 99–106।
5. सांकालिया, 1978।
6. माइस्टर, 1986।
7. विलियम, 1984, 301।
8. विलियम, 1984, 301।
9. स्नेलग्रोव, 1978, 24; हाउइवर, दिस इक्सप्लेनेसन इज कोस्चन्ड बाई हुन्टीग्टन, 1985, 70, 72–73, 87, 98–99, 113, 123, 173।
10. सी0एकमैन, 1978, 82 नोट 9 फार ए फुल विबिलियोग्राफी ऑन दिस प्वाइंट।
11. सरकार, 1980, 14, सजेस्ट्स दैट द टेराकोटा परचेज्ड फार वरशिप आन पार्टीकुलर अकेजन्स एण्ड वेयर केप्ट देयरआफ्टर इन द होम।

12. जे0के0 शर्मा, 1987, 238।

13. एन ऐक्सेप्सन इज सीमींगली फाउण्ड इन गुजरात मातृ देवी एण्ड दीयर रीलेटिव्स इन महाराष्ट्र एण्ड राजस्थान, ह्वेयर इन द फार्म–4 ह्यूमन–हेडेड गाडेज इज रीप्रेजेन्टेड वर्टीकली इन सिटू इन वाल्स ऑफ बाथिंग टैंक्स।

14. देसाई, 1975।

15. डोनाल्डसन, 1985, 40, इक्सप्लेन्स द फीगर्स टाइप परपज ऐज आसपीसीयस एण्ड एपोट्रोपैक।

16. सरकार, 1980, 14–15, नोट द इम्पारटेन्ट डीफरेन्स ऑफ फंगसन ऑफ मातृ देवी एण्ड स्क्वेटिंग ह्यूमन फीमेल फीगर कवर्ड आन ए पिलर आफ द वेंकटेश्वर टेम्पुल।

17. क्रारिच, 1956, अप्लाइड द टर्म टू द इमेज।

18. मोनीयर–विलियम, 1976, 177।

19. आइबिड।

20. शिवराममूर्ति, 1982, 24, रोट दैट द आलमपुर म्यूजियम मातृ देवी (फीगर 52) इज सीटेड इन द पोज नोज एज उत्कुतिकासन।

21. डोनाल्डसन, 1975, 89।

22. न्यूमैन, 1955, 138।

23. फ्लीट, 181, 103।

24. वेस्ट, 1881, 245, रीगार्डिंग हर वर्शिप, नागास्वामी, 1978, 134, नोट्स दैट हर इमेज इन दरासुरम इज वर्शिप्ड टूडे बाई आल कास्ट्स। नरसिम्हास्वामी, 1952,

नोट्स दैट इक्सवकू क्वीन महादेवी चामतामुला वर्शिप्ड हर इन द लेट थर्ड सेन्चुरी।

25. क्रामरिच, 1956।

26. साकालिया, 1960, 111।

27. सांकालियाज आर्टकिल हैज लेड टू ग्रास मिसअण्डरस्टैण्डिंग फार इंसटान्स, द टाइम्स ऑफ इण्डिया, 14 सेप्टेम्बर 1983, प्रिन्टेड ए बांबैस्टिक समरी ऑफ हिज आर्टकिल विथ सांकालियाज बाइलाइन, डिसकसिंग द एविडेन्स फार द ऐनसिएन्ट प्रैक्टीस ऑफ स्क्वैटिंग टू गिव बर्थ एण्ड इन्क्लूडिंग टू मिसकैप्सण्ड फोटोग्राप्स।

28. मुरे, 1934।

29. कार्डिंग्टन, 1935।

30. तिवारी, 1971, रिसेन्टली पब्लिस्ड ऐज गोडेज कल्ट्स इन ऐनसिएन्ट इण्डिया विथ स्पेशल रिफरेन्स टू द फर्स्ट सेवेन सेन्चुरीज ए0डी0, ठलही, 1985।

31. कुमारस्वामी, 1972, रीप्रिन्ट ऑफ आर्टकिल फर्स्ट पब्लिस इन आर्ट बुलेटिन, 9, नं0 4, 1927; एण्ड फोचर, 1905–51।

32. धेरे, 1978।

33. कैरोल रैडक्लिफ वालोन फार्म्स ऑफ द गाडेज मातृ देवी इन इण्डियन आर्ट डेलही 1997।

34. माइस्टर, 1986. 246।